सामाजिक अध्ययन के शिक्षकों को याद करते हुए

अरविन्द सरदाना

1985-95 के दशक में मध्य प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्र के स्कूलों में बेहतर सामाजिक अध्ययन शिक्षण की दिशा में एकलव्य द्वारा प्रयास किए जा रहे थे। इस लेख में दिए गए अनुभव उसी दौरान के हैं, लेकिन आज भी ये उतने ही माक़ूल हैं। लेखक अपने अनुभव से कहते हैं कि कई बार विस्तृत विवरण और सटीक तर्क देने के बाद भी लोग उन्हें आत्मसात नहीं करते क्योंकि वे उनकी मान्यताओं या निजी अनुभवों से टकराते हैं। यहाँ संवाद का खुलापन बनाए रखना ज़रूरी है। उसी प्रकार, चाहे वह संवेदनशील मुद्दे हों या कक्षा की शैली या स्कूल टीम का प्रयास, शिक्षकों के सार्थक अनुभव हमारे लिए दिक्सूचक बन सकते हैं और उनकी स्वतंत्रता को बढ़ाना हमारा लक्ष्य है। -सं.

पर मैं नहीं मानती

कई लम्हे ऐसे होते हैं जो यादगार बन जाते हैं। सामाजिक अध्ययन (एकलव्य) की कक्षा 6 का एक पाठ था– 'ध्रुवीय प्रदेश या टुंड्रा प्रदेश'। अस्सी का दशक और मालवा के एक गाँव का स्कूल। उस समय बच्चों का गाँव के बाहर का अनुभव बेहद सीमित होता था। आसपास के गाँव को छोड़कर उनका कहीं भी आना-जाना नहीं था। टुंड्रा प्रदेश के लोगों के जीवन पर पाठ चल रहा था और उनके खानपान पर चर्चा हो रही थी कि बिना अनाज के उनका जीवन कैसे चल सकता था! तभी एक बच्ची ने पूछा, "सर, बिलकुल खेती नहीं होती!" सर ने दोहराया, "खेती सम्भव ही नहीं है क्योंकि सालभर बर्फ़ जमी रहती है और गर्मी में भी नीचे की मिट्टी कठोर बनी रहती है। हाँ, उनके पास खाने को मछली और माँस उपलब्ध है।" बच्ची कुछ सोच में पड़ गई और असन्तुष्ट नज़र आई। फिर उसने कह ही दिया, "पर मैं नहीं मानती!" यह वाक़िया 1988 का है। ग्रामीण क्षेत्र के इस बच्ची के मन में बर्फ़ से ढँके टुंड्रा प्रदेश की छवि तो बन रही थी पर साथ-साथ उसके अपने अनुभवों से टकरा भी रही थी। मन में द्वन्द्व बना हुआ था। हिम्मत दिखाकर वह अपने शिक्षक से कह पाई कि वो उनकी बात नहीं मान सकती।

इसी प्रकार का एक क़िस्सा शिक्षकों की एक प्रशिक्षण कार्यशाला का है। कर (टैक्स) का पाठ चल रहा था। यहाँ एक प्रश्न था कि चार मित्रों ने मिलकर एक मकान 2000 रुपए महीने पर किराए पर लिया, तो वे किराया कैसे बाँट सकते हैं? शिक्षकों ने कहा, "वे बराबर-बराबर बाँट लेंगे।" "यदि यह जानकारी हो कि उनमें से दो मित्र 3000 रुपए कमाते हैं और अन्य दो 7000, तो क्या किराया बाँटने का कोई और बेहतर तरीक़ा हो सकता है?" इस सवाल पर आपस में बहुत चर्चा हुई। फिर एक शिक्षिका बोलीं, "हम समझ रहे हैं कि आप क्या इशारा कर रहे हो, पर हम नहीं मानते कि यह बराबरी का तरीक़ा है।"

यह दोनों वाक़िए दर्शाते हैं कि हमारी मान्यताएँ गहरी होती हैं। तर्क के सहारे हम पुनर्विचार कर सकते हैं, लेकिन तर्क की भी एक सीमा होती है। तार्किक बातचीत से हमारी मान्यताएँ शायद बदलें, शायद नहीं, या फिर



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

पाठ में बौद्ध व जैन धर्म की उत्पत्ति के बारे में बातचीत और रूढ़ियों पर सवाल हैं। इस पाठ की मदद से शिक्षक, उस समय की बात और आज के सन्दर्भ को आसानी से पिरो पाए और बच्चों के साथ बातचीत में विचारों में बदलाव की सम्भावनाओं को इंगित कर सके। एक बार उन्हीं के स्कूल में एक दलित पिता, जो स्कूल के अन्दर आने से इंकार कर रहे थे, को वे सम्मान स्वरूप अन्दर लेकर आए और कुर्सी पर बिठाकर उनकी समस्या सुनी। पालक सहज तो नहीं रहे, पर सभी बच्चों ने इसे देखा और समझा।

काफ़ी समय बाद बदलें। कोई भी अनुभव एकदम से बच्चे / इंसान आत्मसात कर लें, ऐसा नहीं होता। लेकिन यह ज़रूरी है कि बातचीत होती रहे और उसमें खुलापन हो। हमें इस खुलेपन की प्रेरणा और संवाद की सम्भावनाएँ शिक्षकों से मिलती रहीं। चाहे जाति व्यवस्था की चर्चा हो, न्याय की बात हो या फिर बेरोज़गारी की, उनके मत और मान्यताएँ अलग-अलग तो थीं पर संवाद होता रहा।

संवेदनशील मुद्दे और बदलाव की बातें

हमारे पाठों में कई संवेदनशील मुद्दों पर चर्चा के बहुत अवसर थे, पर यह ज़रूरी नहीं कि शिक्षक उन मुद्दों को उभारें और उनपर चर्चा करवाएँ। बहुत कुछ उनके विवेक, समझ और परिस्थिति पर निर्भर करता है। दलित समुदाय से आने वाले हमारे एक शिक्षक साथी बहुत सावधानी से चलते थे। उन्हें मालूम था कि सभी बच्चों की नज़र उनपर है। वे गाँव में ही रहते थे और कोई भी चूक बवाल खड़ा कर सकती थी। पर जब कक्षा 6 के पाठ 'नए प्रश्न, नए विचार' की बारी आई तो उन्हें खुलकर चर्चा करने का सन्दर्भ मिला। इस

एक अन्य अवलोकन के दौरान, कक्षा 8 में 'नए विचार और समाज सुधार की कोशिश' पाठ चल रहा था। लगभग उन्हीं दिनों दिल्ली के एक सहयोगी समूह से महिलाओं का दल हमारे यहाँ आया। उनके कुछ साथी कक्षा में चर्चा कर रहे थे। उन्होंने बच्चों से सीधे एक सवाल पूछा, "2-4 साल में आप में से किन-किन की शादी हो जाएगी?" पहले सब चुप रहे, फिर धीरे-धीरे लगभग सभी ने हाथ खड़े किए। "आप लड़के या लड़की में क्या-क्या गुण देखना चाहते हो?", उन्होंने पूछा। धीरे-धीरे जवाब आने लगे। लड़कियों का कहना था कि लड़का शराबी नहीं होना चाहिए। लड़कों का प्रश्न था, "क्या शादी के बाद पत्नी को बाहर काम करना चाहिए?" इसी तरह यह प्रश्न भी था, "सुन्दर किसे मानें?" परत-दर-परत खुलती गईं और छोटे-छोटे प्रश्न पूछते गए, मसलन, ऐसा क्यों, लड़का-लड़की में भेद क्यों?, आदि। बच्चों की भागीदारी और जिज्ञासा अपार थी। हमारे लिए पाठ की बातों को व्यवहार से जोड़ने का ये दिलचस्प और सहज अनुभव था।

उसी प्रकार एक शिक्षिका ने पाठ के साथ-साथ अपने बच्चों से मिलकर कक्षा के कुछ सार्वजनिक नियम बनाए। उदाहरण के लिए, यदि कोई किसी दूसरे को गाली दे तो उसे क्या सज़ा होनी चाहिए? नियम था कि उसे उस दिन कक्षा में भाग नहीं लेने दिया जाए। सालभर इस प्रकार की व्यवस्था को मिलकर निभाया। फिर यह सोचा गया कि यदि ऐसा परीक्षा के आसपास हो तब क्या करें! तय हुआ कि परीक्षा नज़दीक होने से बच्चे को नुक़सान न हो तो उसकी सज़ा माफ़ की जा सकती है। कई मुद्दों पर सार्वजनिक रूप से चर्चा की गई। इस तरह प्रजातंत्र की कल्पना को एक पुख़्ता सन्दर्भ दिया। और तो और, सवाल पूछने के लिए भी खुला माहौल दिया गया। बच्चों ने शिक्षिका से भी कुछ इस तरह के संवेदनशील सवाल पूछे कि आपने शादी क्यों नहीं की!

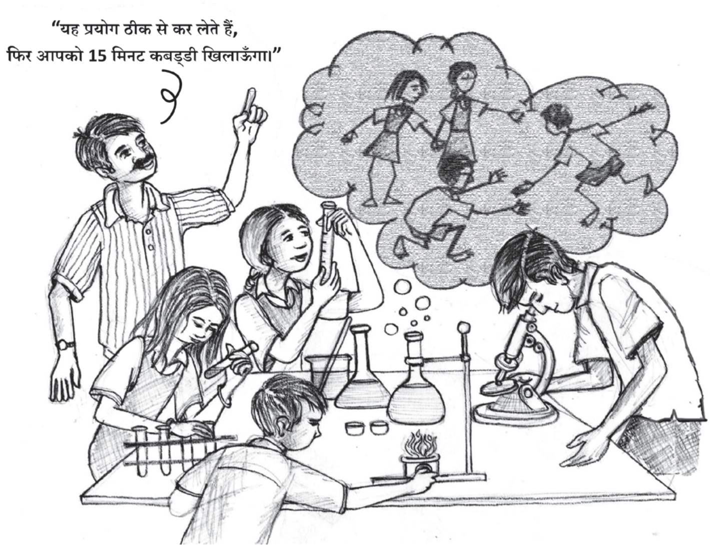
शिक्षकों की अलग-अलग शैली

जब मैं शुरू-शुरू में एकलव्य के सामाजिक अध्ययन कार्यक्रम से जुड़ा तो मुझसे एक स्कूल की कक्षा नहीं सँभल रही थी। एक बच्चे ने मुझे छड़ी लाकर दी और कहा, "सर, इसका उपयोग करिए।" मैं झेंप गया और किसी तरह कक्षा को सँभाला। कुछ दिन बाद एक और स्कूल में जाने का मौक़ा आया। वहाँ सर की मेज़ पर छड़ी थी। मेरे मुँह से निकल गया, "आप इसका उपयोग क्यों करते हैं?" कक्षा के बाद सर ने मुझे समझाया, "अरविन्द भाई, आप समझ रहे हो कि मैं बच्चों को मारता हूँ, ऐसा नहीं है। यह मेरे लिए ऑर्केस्ट्रा का काम करती है। यहाँ बच्चों के अलग-अलग समूह हैं— एक से बढ़कर एक। किन्हें चुप रहना है, किन्हें बोलना है, किनपर ध्यान देना है, कब सभी को चुप रहना है, यह सभी काम इस ऑर्केस्ट्रा से होता है।" मैंने अन्य जगहों में छड़ी का दुरुपयोग देखा था पर उसके इस रूप की कल्पना नहीं की थी। उनकी कक्षा में बच्चों की भागीदारी बहुत अच्छी थी।

एक दिन मैंने सामाजिक अध्ययन के बग़ल में चल रही विज्ञान की कक्षा से शिक्षक को बोलते हुए सुना, "यह प्रयोग ठीक-से कर लेते हैं, फिर आपको 15 मिनट कबड्डी खिलाऊँगा।" सर कबड्डी के जाने-माने खिलाड़ी थे। मैंने बच्चों का इतना मंत्रमुग्ध और शान्त होकर प्रयोग करना पहले कभी नहीं देखा था।



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

इससे विपरीत दृश्य एक अन्य कक्षा में नज़र आया। सामाजिक अध्ययन की कक्षा 6 का पाठ था– 'जापान'। शिक्षिका कुछ बीच के सवाल करवा रही थीं। कक्षा का माहौल पूरी तरह मच्छी बाज़ार बना हुआ था। कुछ बच्चे दौड़-दौड़ कर शिक्षिका को अपना उत्तर दिखा रहे थे, कुछ आपस में चर्चा कर रहे थे, कुछ लिख रहे थे और कुछ पढ़ रहे थे। मुझे छोड़कर किसी को कोई परेशानी नहीं थी। यह शहर का एक बड़ा स्कूल था। मुझे प्रिंसिपल के राउंड की चिन्ता होने लगी। कुछ समय बाद शोरग़ुल थमा, शिक्षिका ने कक्षा के बीच में ही खड़े होकर पाठ को आगे बढ़ाया। मेरे एक वरिष्ठ साथी ने कहा, "इसी को सृजनात्मक शोर कहते हैं।"

हमारे ग्रामीण शाला के एक शिक्षक कक्षा 7 का पाठ 'वर्षा आई नदी बही' करवा रहे थे, तभी उनके मन में एक ख़्याल आया। उन्होंने पूछा, "शाला के सामने वाले नाले का पानी बहकर कहाँ जाता है?" इसका उत्तर आसानी से मिला। "फिर यह छोटी कालीसिंध नदी बहकर कहाँ जाती है?" इस सवाल पर बहस होने लगी क्योंकि यह इलाक़े की नदी तो थी पर बच्चों की जानकारी के बाहर। वे कुछ अन्दाज़ा लगा पा रहे थे। शिक्षक ने बातचीत चलने दी और फिर बताया कि छोटी नदी बड़ी कालीसिंध से मिल जाती है। आगे उन्होंने पूछा, "बड़ी कालीसिंध नदी कहाँ जाती है?" अब बच्चों को अन्दाज़ा नहीं था। शिक्षक ने किताब के नक़्शे में खोजने के लिए कहा। इधर-उधर पलटने के बाद बच्चों को नक़्शा मिला। उन्होंने चम्बल को ढूँढ़ निकाला। अब बात दूर जा रही थी क्योंकि यह विश्वास करना आसान नहीं था कि उनके सामने बहने वाले नाले का पानी चम्बल नदी में मिलता था। "क्या यह नदी किसी समुद्र में जाकर मिलती होगी?" कोई जवाब नहीं। "सूख जाएगी, शायद! आप ही बताओ"... जैसे उत्तर आए। इस स्कूल में सभी के पास *बृजवासी हिन्दी स्कूल एटलस* हुआ करती थी। सर ने कहा, "एटलस में खोजो।" लगभग पूरा पीरियड निकल रहा था पर बच्चों ने खोज निकाला। यह परिचित से अपरिचित की ओर ले जाने वाला अनूठा कार्य तो था ही, इस बात का एहसास भी था कि कैसे पृथ्वी पर पानी का तंत्र जुड़ा है!

स्कूल की टीम का प्रभाव

हमारे अनुभव में शिक्षकों के व्यक्तिगत प्रयास के अलावा स्कूल की सकारात्मक टीम का काफ़ी प्रभाव होता है। यह अलग-अलग सन्दर्भ में देखने को मिला। एक शाला में पुरानी पद्धति को लागू किया जाता था जहाँ कुछ वरिष्ठ शिक्षक बीच-बीच में गाँव का चक्कर लगाते और परिवारों से मिलते। सभी उन्हें पहचानते थे और

कई बार तो उन्होंने उसी गाँव की एक पीढ़ी को पढ़ाया भी होता था। इस दौरान बच्चों के बारे में, दाख़िला लेने, शाला त्यागने से रोकने, बीमारी या पारिवारिक समस्याओं, आदि सभी पर सहज रूप से बातचीत हो जाती। इससे बहुत फ़र्क़ पड़ता था।

इसके विपरीत, जहाँ टीम कमज़ोर होती वहाँ प्राथमिक शाला कक्षा 3 के अन्त में कई बच्चे स्कूल छोड़ देते। यह देखने में तो ड्रॉप आउट लगता, पर होता पुश आउट। इसका एक कारण यह था कि यह टीम चाहती थी कि कक्षा 4 और 5 में चुने हुए बच्चे ही हों। शिक्षा विभाग बोर्ड के रिज़ल्ट को ही मापदण्ड मानता था। उनकी नज़र में वही टीम (जिसे हम कमज़ोर कह रहे हैं) बेहतर होती जो कक्षा तीन के अन्त में उन बच्चों का स्कूल छुड़वा देती जिनके रिज़ल्ट अच्छे आने की उम्मीद नहीं होती थी।

इसके अलावा, अन्य रूपों में भी शिक्षा विभाग ने साइलेंट पुश आउट को वर्षों तक नज़र अन्दाज़ किया। इसका एक उदाहरण हमें एक ग्रामीण माध्यमिक शाला में दिखा। इस शाला की टीम बहुत सकारात्मक थी। टीम के प्रभाव से आसपास के गाँव के बच्चे इस शाला में दाख़िला लेकर अपनी पढ़ाई जारी रखना चाहते थे। हमने देखा कि कुछ ही वर्षों में कक्षा 6 में बच्चों की संख्या 50 से बढ़कर 90-100 तक पहुँच गई। स्कूल एवं गाँव के लोगों ने नए शिक्षकों और अतिरिक्त सेक्शन बनाने की माँग की। लगातार दस वर्ष तक माँग करते रहने के बावजूद इस माँग पर कोई सुनवाई नहीं हुई। नतीजा वही, साइलेंट पुश आउट!

कक्षा 6 में 100 बच्चे तो हो गए, लेकिन शिक्षकों की कमी के कारण इन सभी बच्चों की पढ़ाई नहीं हो पाई। कुछ बच्चों ने कक्षा 6 के अन्त तक आते-आते स्कूल छोड़ दिया और कुछ ने 7 और 8 में। शिक्षा विभाग ने औपचारिक रूप



चित्र : शिवेन्द्र पांडिया

से स्कूल टीम बनाने को कभी महत्त्व नहीं दिया। जहाँ-जहाँ टीम मज़बूत थी, उसका कारण स्थानीय प्रयास थे।

स्कूल टीम के सकारात्मक होने पर जन सहयोग भी आसानी से मिलता और यह समर्थन केवल आर्थिक नहीं होता। एक ग्राम पंचायत ने शिक्षकों के लिए दो मकान बनाए ताकि कुछ शिक्षक अप-डाउन न करें। एक अन्य स्कूल टीम ने लड़कियों को प्रोत्साहन देने के लिए पालकों का यह सुझाव लागू किया कि लड़कियों को 10 मिनट पहले छोड़ दिया जाए ताकि वे स्कूल से गाँव के चौराहे तक सुरक्षित पहुँच जाएँ। उसी प्रकार लड़कियों की एक शाला ने बाउंड्री वॉल का निर्माण करवाया, नियमानुसार यूनिफ़ॉर्म एवं स्कॉलरशिप दी और टाइमटेबल लागू किया। इस शाला में लड़कियों की संख्या एक वर्ष के भीतर ही 80 से 400 हो गई। सकारात्मक स्कूल टीम में अपने विवेक से कई स्थानीय समस्याओं का हल निकालने की क्षमता होती है। पर यह बदलाव तब तक व्यापक नहीं हो सकता, जब तक कि स्कूल विभाग की सोच व कार्य-विधि में परिवर्तन नहीं होता।

अरविन्द सरदाना लम्बे समय से एकलव्य के सामाजिक अध्ययन समूह के सदस्य रहे हैं। आप एनसीईआरटी एवं कई राज्यों में पाठ्यक्रम निर्माण समिति के सदस्य रहे हैं।

सम्पर्क : arvindewas@gmail.com